श्री गुरुवर्य के व्याख्यान

तन्त्रालोक के पांचवें आह्निक की व्याख्या

गुरुकृपावगाहिनी

प्रभा देवी

2010

नयी दिल्ली

स्यात् इत्येतत्
स्वपक्षघ्नं दुष्प्रयोगा-
स्त्रवत्तव॥

दो शब्द

प्रातः स्मरणीय श्री गुरुवर्य ईश्वर स्वरूप जी महाराज ने ई० सन् 1971 में तन्त्रालोक का अध्ययन कशमीरी भाषा में सामुदायिक रूप में हम सबको कराया। प्रति रविवार को गुप्त-गंगा मंदिर के हॉल में वे अपने अनुभव के आधार पर तन्त्रालोक के पांचवें आह्निक आणवोपाय की रहस्यमय गुत्थियों को सुलझा कर हमें उपदेश देते रहे। पहिले के सत्तर श्लोकों को महाराज जी के मुखार्विन्द से सुना पर उनका हिन्दी में अनुवाद नहीं किया। 71वें श्लोक से मैं आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर गुरुदेव के कशमीरी में कहे गए अनमोल व्याख्यानों को हिन्दी भाषा में अपनी बाल-सुलभ-बुद्धि के आधार पर लिखती रही। उन्हीं को संकलन करके यह पुस्तक की आकृति बन गई है। लगभग चालीस वर्ष यह निधि मेरे पास लिखित रूप में रही। संयोगवश श्री ज्ञानी जी बादाम मेरे पास आए। उन्होंने इस निधि को मेरे पास लिखित रूप में देखा तो कहा हम इसे अपने कार्यालय से छपवा देंगे। उनकी सहानुभूति के कारण यह मुद्रित होकर विद्वानों के पास आ रही है। महाराज जी के अमूल्य उपदेश सुरक्षित रहें, इसी अभिप्राय से इन पन्नों का मुद्रण हुआ है।

मैं ज्ञानी जी बादाम को साधुवाद देते हुए इन दो शब्दों को समेट रही हूँ।

16/04/2010
गुरुवार, फरीदाबाद
दिल्ली

गुरुकृपा वाहिनी
प्रभा देवी

तन्त्रालोक के
पांचवें आह्निक की व्याख्या

72वें श्लोक से प्रारम्भ

सोमसूर्यकलाजाल
परस्परनिघर्षतः।
अग्निषोमात्मके धाम्नि
विसर्गानन्द उन्मिषेत् ॥72॥

अर्थ– सोम = ग्राह्यवर्ग

शब्द– स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।

सूर्य-ग्राहक वर्ग-ज्ञानेन्द्रियां।, इन दोनों के संघट्ट-मिलाप से अग्नि तथा सोम रूप धाम गुह्यस्थान में ठहरे हुए मेद्रकन्ध में विसर्ग के आनन्द का अनुभव होता है।

तभी तो इसी स्थान के स्पर्श से जीवों को भी बाह्य धातु निःष्यन्द का स्खलन होता है और इधर योगियों को भी इसमें आन्तरिक स्पर्श होने से ऊर्ध्वकुंडलिनी का अनुभव होता है।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए महाराज जी ने कहा कि– परमयोगियों से प्रश्न किया गया कि स्वरूपानन्द का सुख कैसा होता है? उन्होंने नपे-तुले शब्दों में यही कहा कि वह सुख, स्पर्श से उत्पन्न सुख-तुल्य है। शब्द, रूप, रस तथा गन्ध इन चारों के अनुभव रूप सुख जैसा नहीं कहा। यही कारण है कि प्रभु ने जीवों को विश्व में दिन-दिन निकालने के लिए वैषयिक सुख प्रदान किया है। इसी के सहारे जीव परम-सुख को भूल कर माया में ही रमण करने लगा।

अब तुम सभी जन इस विषय का अनुभव यदा-कदा करते ही रहते हो। कृपया यदि थोड़ा-सा उस समय ध्यान रखोगे तो स्वरूप-साक्षात्कार होने की सम्भावना होगी।

अलं रहस्यकथया
गुप्तमेतत्स्वभावतः।
योगिनीहृदयं तत्र
विश्रान्तः स्यात्कृती बुधः ॥73॥

इस श्लोक में कहे गये 'योगिनीहृदय' शब्द की व्याख्या गुरुवर्य ने यूं की–

योगिनी–हृदय और भोगिनी–हृदय ये दोनों मेद्रकन्ध जिसको आंगल–भाषा में (Rectum) कहते हैं, में स्थित है। इस में योगिनी–हृदय का विकास उत्तम योगियों को होता है। भोगिनी–हृदय का विकास सभी जीवों को होता है। भोगि साँप को कहते हैं अतः जीवों के लिए यही उपयोगी स्थान अनवधानता के कारण साँप का रूप धारण करके ढसता है। जिससे जीवों को प्रत्येक प्रकार की बहिर्मुख रूप कीचड़ मली जाती है और इधर इसी स्थान में प्रविष्ट होने से विमर्शपरायण महान् योगी पारमार्थिक चमचमाता हुआ मुकुट लगा कर देदीप्यमान होता है।

महाराज जी ने इस श्लोक को समझाते हुए यह भी कहा कि इस उत्तम आणवोपाय में योगिनी रूप शक्ति तथा रुद्र रूप पुरुष का होना अपेक्षित है। इन लक्षणों के बिना यह उपाय सिद्ध नहीं हो सकता है।

हानादानतिरस्कार–
वृत्तौ रूढिमुपागतः।
अभेदवृत्तितः पश्ये–
द्विश्वं चितिचमत्कृतेः ॥74॥

चितिचमत्कृतेः– लगातार चेतनता पारमार्थिक सजगता–चमत्कारात्मक आनन्द से जगत् को अभेद–वृत्ति से देखता हुआ, त्याज्य तथा ग्रहणीय वृत्ति का तिरस्कार करके अपने स्वरूप में यह योगी रूढ़–निष्ठ बन जाता है। यही इसके स्वात्म–साक्षात्कार के होने का अभिज्ञान चिह्न है।

अर्थक्रियार्थितादैन्यं
त्यक्त्वा बाह्यान्तरात्मनि।
स्वरूपे निर्वृत्तिं प्राप्य
फुल्लां नाददशां श्रयेत्॥75॥

इस श्लोक का निर्णय करते हुए महाराज जी ने कहा कि विकास दो प्रकार का है– एक तो स्वरूप विकास जिसे सौः बीज, अहम् परामर्श, सृष्टि, हृदय आदि कहते हैं। दूसरा स्परूपच्यवन जिसे संहार हृदय, महअ, रक्ष्खें, संहार बीज या कुंडलिनी शक्ति भी कहते हैं।

इस श्लोक में 'नाद' शब्द पर महाराज जी ने कहा–

अनाहतहतोतीर्णो महाविषमचिद्गतिः।
वीरहृद्धटनोद्युक्तो रावो देव्या विजृम्भते॥

शब्द दो प्रकार के माने जाते हैं। अनाहत तथा आहत। आहत शब्द दो वस्तुओं के टक्कराने से उत्पन्न होता है। अनाहत हृदय में बिना किसी के हत होने से स्वयं उत्पन्न होता है। इसमें दशनाद सम्मिलित हैं। दश–नादों को छोड़ कर जो पार्यन्तिक नाद दशा उत्पन्न होती है जिसे सहार कुंडलिनी क्षकार भी कहते हैं, इसी का अनुभव करके योगी अर्थ– क्रिया यानी स्वरूप–विकास

करने के लिए जिन बाह्य उपकरणों-विषयों का आश्रय लेता था, उसको छोड़कर बाह्य रूप तो अन्तरात्मा है उसमें आत्यन्तिक सुख को प्राप्त करता है।

नोट– बीजोद्धार = स्वरूप में प्रविष्ट होने के समय होता है।
बीजोदयः = स्वरूप में ठहरने के पश्चात् होता है।

वक्त्रमन्तस्तया सम्यक्
संविदः प्रविकासयेत्।
संविदक्षमरुच्चक्रं
ज्ञेयाभिन्नं ततो भवेत् ॥76॥

इसका अन्वय यह है–

संविदः अन्तः वक्त्रम् तया
सम्यक् प्रविकासयेत् ततो संवित्
अक्ष, मरुद च्चक्रं ज्ञेय
अभिन्नं भवेत्।

इसका अर्थ इस भांति किया–

संविद् देवी का आन्तरिक वक्त्र, उस नाद दशा से पूर्ण रूप से विकास के योग्य बनकर तब फिर ज्ञान-चक्र, इन्द्रिय चक्र और प्राणादि पांच रूपों का चक्र ज्ञेय–शून्यातिशून्य रूप में अभिन्न होकर ठहरता है। तात्पर्य यह कि ऊपरवर्णित सभी चक्रों का अस्तित्व इस अवस्था में जाकर विलीन हो जाता है।

इस प्रसंग पर महाराज जी ने कहा कि कशमीर के एक सन्त 'मान जी गूज' हुए थे, वे हुक्के की नली को मुंह में रखते ही स्वरूप में चले जाते थे। केवल मात्र विषय का सेवन प्रारम्भ करते ही स्वरूप में टिक जाना सिद्धों का विषय है।

तज्ज्ञेयं संविदाख्येन
वह्निना प्रविलीयते।
विलीनं तत् त्रिकोणेऽस्मि
ञ्शक्तिवह्नौ विलीयते ॥77॥

वह महाशून्यातिशून्य ज्ञेय, संविद नाम वाले अग्नि में पूर्णरूप से लीन हो जाता है और वह शून्य दशा इस त्रिकोण 'ए' नामक शक्ति रूपी अग्नि में विलीन हो जाती है।

तत्र संवेदनोदार–
बिन्दुसत्तासुनिर्वृतः।
संहारबीजविश्रान्तो
योगी परमयो भवेत्॥78॥

यदि जीव ने आत्यन्तिक विश्राम लेना हो तो उसे इसी संहार बीज (अं) रूप बिन्दु में ही विश्राम करना चाहिये– संहार–बीज मन्त्र जिसे पिंडनाथ भी कहते हैं (र्क्ष्खें) बीजाक्षर है।

महाराज जी ने कहा– इसी बिन्दु–सत्ता में ठहर कर महागणपति ने क्षीर–सागर पिया था। किसी विशेष ऋषि ने भगवान् शंकर की जटाओं में स्थित, गंगा के प्रवाह को निगल लिया था। भगवान् शंकर भी उसकी शक्ति को देख कर उस पर मोहित हो गये थे।

प्रसंगवश महाराज जी ने यह भी कहा कि याज्ञवल्क को भला क्या आवश्यकता पड़ी थी संन्यास लेने की। इसलिए कि वह जीवन्मुक्ति के सुख का अनुभव करें।

17-10-1971

अन्तर्बाह्ये द्वये वापि
सामान्येतरसुन्दरः।
संवित्स्पन्दस्त्रिशक्त्यात्मा
संकोचप्रविकासवान् ॥79॥

ऊपरवर्णित श्लोक का अर्थ करने से पहिले यह प्रश्न उठता है– प्रकाश की अपेक्षा विमर्श की प्रधानता क्यों कही है। इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि जो प्रकाश का माध्यम विमर्श है वह आन्तर, बाह्य और अन्तर्बाह्य सामान्य रूपता से तथा विशेष रूप से सुन्दर होने के कारण तीन शक्तियों से युक्त होकर ही संकोच रूप जगत् में विकसित होता है। भाव यह है – केवल प्रकाश में उतनी सत्ता नहीं है जितनी विमर्श की मानी गई है। विमर्श की सत्ता से ही प्रकाश की प्रकाशता अवस्थित है।

इसी विमर्श में अन्तःस्थित इच्छा-शक्ति, अन्तर्बाह्य में ज्ञान-शक्ति तथा बाह्य में क्रिया-शक्ति का स्फार ठहरा है। इसी विमर्श के अन्तः को परप्रमाता रूप शिव-तत्त्व-अहम्, अन्तर्बाह्य को शुद्धविद्या तत्त्व अहमिदम् तथा बाह्य जिसमें सम्पूर्ण भेद वर्ग का विकास होता है, जिसे माया भी कहते हैं और उसी का परामर्श इदम् है। इन तीनों का विश्रान्ति-स्थान विमर्श में ही है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है– जब संवित् के तीन रूप हुए यानी आन्तरता, बाह्यता और अन्तर्बाह्यता तो इस को जड़ता प्राप्त होगी क्योंकि संकोच-विकास धर्मत्व का समावेश संवित् को माना गया है तब फिर यह धाम विश्रान्ति का स्थान कैसे रहा?

इस शंका का समाधान करते हुए अभिनवगुप्त जी कहते हैं– इस संवित् का संकोच–विकास का होना भी उसके अपने स्वातन्त्र्य पर होना ही निर्भर है क्योंकि संवित् के संकुचित होने पर वह जड़ भी है ही।

इसकी व्याख्या करते हुए गुरुवर्य ने कहा कि वेदान्त प्रक्रिया में भी कहा है– "तत् स्रष्ट्वा तदैव अनुप्राणनम्"– जिस भी पदार्थ की रचना हुई उसमें स्वयं प्रभु अवतरित हुए और उसी रूप से ठहरे। इसी लिए सभी विकास संवित् का ही है।

असंकोचविकासोऽपि
तदाभासनतस्तथा।
अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः
परमं पदमश्नुते ॥80॥

अब प्रश्न उठता है कि यदि तथ्य रूप से संकोच–विकास का कोई विशेष प्रयोजन ही नहीं है तो फिर इसके प्रदर्शन से क्या अभिप्राय है।

इस शंका को सुलझाते हुए आचार्य कहते हैं– इस रूप को दिखाने में अति रहस्य–प्रक्रिया का समावेश है।

बाह्यता को दिखाने से ही आन्तरता का वैभव प्रकट होता है। यह न केवल व्यापक रूप से शिव के लिए ही बात लागू होती है अपितु साधना पक्ष से योगी भी जब इस धारणा का अभ्यास करता है या यूं कहें जब बाह्य–दृष्टि के होते हुए योगी आन्तरिक संवित् की ओर ही लक्ष्य रखता है तो परम–पद को प्राप्त करता है।

महाराज जी ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा– सच तो यह है कि शरीर की उपाधि के कारण ही बाहर तथा अन्तर का आभास होता है। स्पन्दशास्त्र में भी कहा है– किसी अवस्था-विशेष में बाहर निकलना ही प्रवेश है और अन्दर जाना ही विकास है। अतः इस दशा को सामने रख कर तो बाहर-अन्दर की कलना, कल्पना मात्र है। वेदान्त में भी कहा है– अस्तिता, भातिता और प्रियता तो शिवभाव में हैं– नाम और रूप माया में हैं।

यदि संवित् संकोच-विकास से युक्त न होकर एकवत् रहती तो उसे जड़ता प्राप्त होती। इसीलिए स्वरूप-निष्ठ बनने के लिए मुमुक्षु को भी जानबूझकर माया में प्रवेश करना पड़ता है, उस संवित्–धाम की तह को देखने के लिए।

इसकी व्याख्या करते हुए महाराज जी ने कहा कि हमारे बड़े स्वामी (राम जी) ने एक बार शिष्यों से प्रश्न किया– बताओ इच्छोपाय (शांभव), ज्ञानोपाय (शाक्त) तथा क्रियोपाय (आणव) इन तीनों में से किस उपाय का अभ्यास करने से मुमुक्षु को संवित्-धाम का साक्षात्कार हो सकता है। सभी शिष्यों ने मिलकर कहा– इच्छोपाय का अभ्यास करने से ही पार्यन्तिक सिद्धि मिल सकती है। गुरुवर्य ने उन्हें समझाते हुए कहा कि नहीं, तात्विक सिद्धि क्रियोपाय यानी क्रिया-शक्ति जिसे निरंजन-धाम औंकार कहते हैं उसमें प्रविष्ट होने से होती है। जो मुमुक्षु साधक इस धाम में प्रविष्ट होने की योग्यता रखता है, उसे फिर गिरने की सम्भावना नहीं रहती। किन्तु स्मरण रहे इस शक्ति पर ठहरना प्रबुद्ध योगी का काम है। साधारण साधक इस अभ्यास का सेवन

करने से अधोगति को ही प्राप्त होगा। अतः तुम्हारे गुरुदेव ने जो अभ्यास तुम्हें कहा है, उसी को अहर्निश करते रहो। कभी न कभी निर्विकल्पता का साक्षात्कार होगा ही।

ततः स्वातन्त्र्यनिर्मेये
विचित्रार्थक्रियाकृति।
विमर्शनं विशेषाख्यः
स्पन्द औन्मुख्यसंज्ञितः ॥81॥

स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा निर्मित घट-पट आदि भाववर्ग में अनेकों कार्यों को संपादित करने वाला विमर्श ही विशेष रूप से स्पन्द कहलाता है। इसी का दूसरा नाम औन्मुख्य भी है।

इसको समझाते हुए महाराज जी ने कहा कि संवित् का परामर्श साधक, प्रत्यक्ष रूप से घट, पट आदि वस्तु समुदाय के प्रथमाभास में ही करता है। उसी स्थिति को संवित्-औन्मुख्य भी कहते हैं।

तत्र विश्रान्तिमागच्छे-
यद्यद्वीर्यं मन्त्रमण्डले।
शान्त्यादिसिद्धयस्तत्त-
द्रूपतादात्म्यतो यतः ॥82॥

उस प्रथमाभासात्मक परामर्श में विश्रान्ति को प्राप्त करके जो मंत्र-मंडल- सम्पूर्ण शब्दों का जो तात्त्विक वीर्य है- या यूं कहें वैखरी वाणि को पश्यन्ति दशा में ठहराना ही शब्द रूप मन्त्रों का वीर्य है। उस अवस्था में स्थिति प्राप्त करने से महाशान्ति,

महाधृति और महापुष्टि की सिद्धि प्राप्त होती है। तभी तो साधक, घट आदि सभी वस्तुओं और उनके शब्दादि मन्त्र समुदाय के तात्त्विक संवित् स्वरूप का अनुभव करता है।

महाराज जी ने यहां यह बात विशेष रूप से कही– न केवल मंत्र लिपि सम्प्रदाय विशेष को ही कहते हैं बल्कि सभी शब्द संसार, मन्त्र कहलाता है।

10–10–1971
ईश्वराश्रम
गुप्त–गंगा
श्रीनगर

<u>24-10-1971</u>

दिव्यो यश्चाक्षसंघोऽयं
बोधस्वातन्त्र्यसंज्ञकः।
सोऽनिमीलित एवैतत्
कुर्यात्स्वात्ममयं जगत् ॥83॥

इस श्लोक की व्याख्या करने से पहिले महाराज जी ने कहा– इन्द्रियां दो प्रकार की हैं– एक ज्ञान रूप हैं और दूसरी कर्म रूप हैं। ज्ञान रूप इन्द्रियों को बुद्धि इन्द्रिय कहते हैं और कर्म रूप इन्द्रियों को स्वातन्त्र्य रूप कहा गया है। कहने का प्रयोजन यह है कि संवित्-साक्षात्कार होने पर यही ज्ञानेन्द्रियां, बुद्धि इन्द्रिय में परिवर्तित हो जाती हैं और कर्मेन्द्रियां स्वतन्त्रता का रूप धारण करती हैं। इसी आशय को लेकर श्लोक की व्याख्या करते हैं:–

अन्वयः– **यश्च अयं अक्षसंघः दिव्यः**
(सः) बोध स्वातन्त्र्य संज्ञकः।
सः अनिमीलित एव एतत्
जगत् स्वात्ममयं कुर्यात्॥

इस श्लोक की अवतरणिका में जयरथ कहते हैं– यह संवित्- तादात्म्य ऐसे योगी को न केवल प्रमेय दशा में ही होता है अपितु प्रमाण दशा – इन्द्रियों में भी होता है। वे इन्द्रियां अपनी सीमितता को त्याग करके विशाल ज्ञान रूप स्वातन्त्र्य में परिवर्तित हो जाती हैं।

अर्थ– जो यह इन्द्रियों का समूह है वह दिव्य रूप धारण करके बोध यानी स्वातन्त्र्य नाम वाली बन जाती हैं। इस भांति व्यवहार दशा में रह कर ही वह योगी जगत् को स्वात्ममय बनाता है।

महाराज जी ने इस श्लोक पर उदाहरण देकर समझाया ऐसा योगी बाहर से तो इलायची चबाता हुआ दिखाई देता है पर वह कहीं संवित्–धाम में ठहर कर ही, इलायची चबाने की क्रिया का तात्त्विक रसास्वादन करता है। इसी भांति उसका प्रत्येक व्यवहार स्वात्मानन्द से पूरित होता है।

महासाहससंयोग–
विलीनाखिलवृत्तिकः।
पुञ्जीभूते स्वरश्म्योघे
निर्भरीभूय तिष्ठति॥84॥
अकिंचिच्चिन्तकस्तत्र
स्पष्टदृग्याति संविदम्।
यद्विस्फुलिङ्गाः संसार
भस्मदाहैकहेतवः ॥85॥

अब प्रश्न उपस्थित होता है, कि यह अवस्था किस उपाय से प्राप्त होगी। यहीं आचार्य कहते हैं–

महासाहस– जिसे चकित–मुद्रा कहते हैं, उस अवस्था की प्राप्ति होने से, जबकि स्वयं सभी इन्द्रियां सहम जाती हैं, अतः स्वभावतः सभी वृतियां निर्विकल्पधाम में विलीन हो जाती हैं और अपनी यही इन्द्रियां एक ही निर्विकल्प अवस्था में एकत्रित

हो जाती हैं। इस भांति परिपूर्ण बनकर योगी जब स्वात्मानन्द में टिक जाता है, तब उस चकित-मुद्रा-धाम शांभवी-मुद्रा में प्रविष्ट होकर इसकी संवित् स्पष्ट अवबोध से युक्त बनती है। इस अवस्था का फल यह होता है कि बोधाग्नि की चिंगारियां भेद रूप संसार को भस्म करने में कारण बनती हैं।

महाराज जी ने महासाहस अवस्था को समझाते हुए कहा कि अचानक भयंकर भूंचाल आये या रास्ते चलते हुए शेर या साँप सामने आ जाये अथवा अपना शत्रु आ उपस्थित हो, उस समय व्यक्ति जिस किंकर्त्तव्य अवस्था में जाकर एकाग्र बनकर जिस चकित मुद्रा में प्रविष्ट होता है उसे महासाहस संयोग कहते हैं। विमर्शवान् सजग योगी इस अवस्था पर धारणा देने का अभ्यास करते करते तथ्य स्वरूपानन्द का अनुभव करते हैं।

तदुक्तं परमेशेन
त्रिशिरोभैरवागमे।
श्रृणु देवि प्रवक्ष्यामि
मन्त्रभूम्यां प्रवेशनम् ॥86॥

इस अवस्था का वर्णन भगवान शंकर ने त्रिशिरोभैरवतन्त्र में किया है। हे पार्वती! मैं तुम्हें मंत्र-भूमि अहंपरामर्श में प्रविष्ट होने का उपाय कहता हूँ-

मध्यनाड्योर्ध्वगमनं
तद्धर्मप्राप्तिलक्षणम्।
विसर्गान्तपदातीतं
प्रान्तकोटिनिरूपितम् ॥87॥

मध्य-नाड़ी सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा ऊर्ध्व-गमन तथा सुषुम्ना-नाड़ी के धर्म जो चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया हैं उनके लक्षण, विसर्गान्तपद– प्राण और अपान (प्राणापान) दोनों का प्रारम्भ तथा अन्त रूप जो द्वादशान्तात्मक स्थान है उससे भी जो अतीत पार्यन्तिक कोटि है उसी का निर्णय हम ने किया।

उस अवस्था में प्रवेश कैसे हो? इस पर कहते हैं–

अधः प्रवाहसंरोधा
दूर्ध्वक्षेपविवर्जनात्।
महाप्रकाशमुदयं–
ज्ञानव्यक्तिप्रदायकम् ॥88॥

अपान-वायु साँस को रोककर और प्राण-वायु साँस को छोड़कर बाहर निकाल कर, महाप्रकाश का उदय होता है, वही तात्त्विक ज्ञान को प्रदान करता है।

अनुभूय परे धाम्नि
मात्रावृत्त्या पुरं विशेत्।
निस्तरङ्गावतीर्णा सा
वृत्तिरेका शिवात्मिका ॥89॥

इस भांति इस का साक्षात्कार सुषुम्ना-धाम में करके पुनः-पुनः परामर्श की घनता से (साधक) अहंपरामर्श में प्रविष्ट होता है।

सा– वह मन्त्रभूमि रूप

स्वात्मवृत्ति–विश्वोत्तीर्णरूपा

वृत्तिरेका–वृत्ति एकमात्र

निस्तरङ्गा = निमीलन रूप-वैषयिक कलोलों से रहित शान्त है।

अवत्तीर्णा-(दूसरी) अवतरित वृत्ति- विश्वमय वृत्ति, बाह्य-विषयों को भोगने पर भी शिवात्मिका-शिव रूप ही है।

<u>1.11.1971</u>

ऊपरवर्णित दोनों श्लोकों का अर्थ करने के बाद महाराज जी ने कहा- उस मन्त्रभूमि रूप स्वात्मवृत्ति में प्रविष्ट होने के लिए दो मार्ग शास्त्रों ने कहे हैं- एक तो स्वरूप-स्वातन्त्र्य- एकाकी वृत्ति से युक्त और दूसरा क्रिया-स्वातन्त्र्य से युक्त। शैव-शास्त्रों के अवतरित होने के आद्य में इन दोनों भागों के बारह सिद्ध हुए हैं। पहिले भाग के छः सिद्धों ने शुद्ध स्वरूप-स्वातन्त्र्य की खोज विषय-वासनाओं को एक ओर रख कर की, वे ऊर्ध्वरेतस कहलाये। दूसरे भाग के छः सिद्धों ने क्रिया-शक्ति को ग्रहण करके सम्पूर्ण विषयों का रसास्वादन करने में ही स्वरूप का साक्षात्कार किया। उन्हीं दो भागों का निर्णय पिछले दो श्लोकों में वर्णित है। अब अगले श्लोकों में दूसरी वृत्ति का विश्लेषण करते हैं-

चतुष्षड्द्विर्द्विगुणित-
चक्रषट्कसमुज्ज्वला।
तत्स्थं (तस्थो) विचारयेत् खं खं
खस्थं खस्थेन संविशेत् ॥90॥
खं खं त्यक्त्वा खमारूह्य

खस्थं खं चोच्चरेदिति।
खमध्यास्याधिकारेण
पदस्थाश्चिन्मरीचयः॥91॥

दूसरी विश्वमय-वृत्ति–चार, छः, आठ, सोलह, बारह तथा चौबीस चक्रों से समुज्वल बनी है।

चार– जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य।

आठ– सात प्रमाता-सकल प्रलयाकल, विज्ञानाकल, शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति तथा स्वरूप शिव।

सोलह– प्रमेय की सोहल कलायें–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश। नेत्र, कर्ण, घ्राण, त्वचा, जिह्वा। वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध। यह सभी पन्द्रह हुए इन पर नियमन करने वाला सोलहवां मन हुआ।

छः– षट् चक्रः, मूलाधार, मणिपूर, स्वाधिष्ठान, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रारचक्र।

बारह– प्रमाण की बारह कलायें– पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन तथा बुद्धि।

चौबीस– चौबीस तत्त्व = पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश। वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ। नेत्र, कर्ण, घ्राण, जिह्वा, त्वचा। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध। मन, बुद्धि, अहंकार और प्रकृति।

91वें श्लोक का अर्थ–

खमारुह्य–स्वातन्त्र्यरूपमैश्वर्यपदमवलंम्य

खस्थं = मितप्रमातृभूमाववस्थितं

खं = स्वात्मानं

विचारयेत् = अस्य संकुचितं रूपं तत्त्वदृष्टया असंकुचितमेव भवेदिति विमर्श पदवीं नयेत्। (अत्रोपाययुक्तिः)।

खस्थेन खस्थं खं चोचरेत्	=	शब्दस्पर्शा द्वौ खेतिष्ठमानेन सावधानेनचेतसा, योगिनी हृदयात्मनि खें स्थितं, खं = प्राणनरूपां कुंडलिनी शक्तिं ऊर्ध्वद्वान्दशान्तपदं नयेत् तदनन्तरं
खं खं त्यक्त्वा	=	क्रियाशक्तिरूपां प्रमेय पदं, ज्ञानशक्तिरूपं प्रमाणपदं त्यक्त्वा अर्थात् तदात्मकं व्यवहारं विहाय।
अधिकारेण खम् अध्यस्य	=	स्वावष्टम्भबलेन चितिरूपं खं आक्रम्य
चिन्मरीचयः	=	सर्वाः इन्द्रियवृत्तयो
पदस्थाः भवन्ति	=	तुर्यातीतदशामधिशयाना भवन्ति।।

भावयेद्भावमन्तःस्थं
भावस्थो भावनिः स्पृहः।
भावाभावगती रुद्ध्वा
भावाभावावरोधहृक् ।।92।।

अर्थ– प्राणापान की गति को रोककर, आन्तरिक स्वरूप की भावना करे। (इस भांति) ग्राह्य तथा ग्राहक की संक्षुभित दशा में ठहर कर भी उससे विलग रहे। ऐसा करने पर, भाव तथा अभाव का संयम करने से मुमुक्षु स्वरूप का अनुभव करता है।

आत्माणुकुलमूलानि
शक्तिभूर्तिश्चिती रतिः।
शक्तित्रयं द्रष्टृदृश्यो–
परक्तं तद्विवर्जितम् ॥93॥
एतत्खं दशधा प्रोक्त–
मुच्चारोच्चारलक्षणम्।

अब प्रश्न उपस्थित होता है– खं – आकाश के स्वरूप में अन्तर न होने पर भी यह दस प्रकार का 'खं' भिन्न अर्थ वाला कैसे हुआ? इन्हीं दस आकाशों का वर्णन करते हैं–

पहिला खं – आत्मा, दूसरा अणु–जीव, तीसरा कुलमूल जन्माधार, शक्ति–मध्यम प्राणवाहिनी शक्ति, भूतिः–स्वातन्त्र्य लक्षण रूपा ऐश्वर्य, चितिः– तुर्यातीतपदरूप परासंवित्, रतिः–आसक्ति और तीन, क्रिया, ज्ञान तथा इच्छा शक्ति। इस भांति दृष्टा तथा दृश्य से उपरंजित दशा और दूसरी इन दृष्टा–दृश्य के उपराग से रहित दशा। इस रीति से यह खमावस्था दस प्रकार की कही है। इन पर सजगता जिसको कशमीरी भाषा में महाराज जी 'ह्रास' कहते हैं, इसी के द्वारा संवित् का विकास प्रकट होता है।

ऊपरवर्णित दो श्लाकों का व्याख्यान करने से पहिले महाराज जी ने कहा– हम ने जो पहिले पढ़ा–

अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः
निर्मषोन्मेषवर्जितः।
इयं सा भैरवीमुद्रा।
शिवसद्भावदायिनी॥

इसी अवस्था की सिद्धि के लिए इन ऊपरवर्णित दस खमों का अभ्यास कहा गया है। इधर आणवोपाय का जो मुख्य उपाय स्पर्श है, उसके भोगने से स्वतः ही निर्विकल्पता प्रकट होती है। अतः शैवाचार्यों ने इस विषय पर बल देते हुए इसे निर्विकल्प धाम में प्रविष्ट होने का मुख्य तथा सहज साधन कहा है। इस भैरवी-मुद्रा में प्रविष्ट होने के लिए न केवल इन दस खमों का नाम आकाश ही है बल्कि इन्हें दस धाम-तेज भी कहा है। इनका निर्णय निम्न श्लोक में करते हैं–

धामस्थं धाममध्यस्थं
धामोदरपुटीकृतम् ॥94॥
धाम्ना तु बोधयेद्धाम
धाम धामान्तगं कुरु।
तद्धाम धामगत्या तु
भेद्यं धामान्तमान्तरम् ॥95॥

धामोदरपुटीकृतम् = स्वातन्त्र्य का जो स्वरूप है उसके द्वारा संवलित–उससे नित्य अभिन्न जो– धामस्थं– जीव में ठहरा हुआ संकुचित जीवात्मा है उसे धाम– पर-प्रमाता में बोधयेत् = उद्बोधन करें– जीवात्मा को परमात्मा के योग्य बनायें। धाममध्यस्थं– तेजो रूप जो धाम कुलमूल– जन्माधार है उसके मध्य में धाम– अर्थात् प्राणशक्ति को धाम्ना = स्पर्शात्मक रति से आसक्त होकर धामान्तगमकुरु– तुर्यातीतपद की चरम सीमा पर पहुंचाये। तत् = तब फिर परतत्व का साक्षात्कार होने से, धामगत्या तु– दृश्य से उपरंजित क्रिया-शक्ति–प्रमेय भूमि

में व्यवहार करने से, धाम-भेद्यं = दृष्टा से उपरंजित ज्ञान-शक्ति को भी त्यागना चाहिये।

(जैसे सभी मतावलम्बियों ने प्रमेय-भूमि को त्याज्य कहा है वैसे ही इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान-शक्ति भी त्याज्य है।)

आन्तरं धामान्तं (भवति) = इस भांति प्रमाता की एकात्मता के होने पर दृष्टा और दृश्य की उपाधि से रहित केवल स्वविमर्श रूप बनी हुई इच्छा शक्ति का आश्रय लेना चाहिये जिससे उसी पर-प्रमाता में रूढ़ि- स्थिरता प्राप्त हो।

भेदोपभेदभेदेन
भेदः कार्यस्तु मध्यतः
इति प्रवेशोपायोऽय
माणवः परिकीर्तितः ।।96।

पूर्व-वर्णित चरम-सीमा में ठहरे हुए स्पर्श रूप आणवोपाय को समक्ष रख कर प्रश्न उठता है- भला इसी स्पर्श रूप उपाय को ही संवित्-धाम में प्रविष्ट होने का मुख्य उपाय क्यों कहा है जबकि और भी कई उपायों को शास्त्रों ने कहा है। इस पर आचार्य जी कहते हैं- अब जो भेद, उपभेद रूप उपाय कहे गये हैं वह तो मध्यम श्रेणी के ही हैं। परतत्व में प्रविष्ट होने के लिए यह स्पर्शात्मक आणवोपाय ही मुख्य है।

श्रीमहेश्वरनाथेन
यो हृत्स्थेन ममोदितः

इसका निर्णय मेरे हृदय में ठहरे हुए महेश्वरनाथ (शिव) ने किया है। (इस उपाय का निर्णय न केवल रहस्य-शास्त्रों में ही

किया गया है बल्कि योग-प्रक्रिया में भी इस उपाय को भिन्न नाम देकर समझाया है।)

श्रीब्रह्मयामले चोक्तं
श्रीमान् रावो दशात्मकः ॥97॥
स्थूलः सूक्ष्मः परो हृद्यः
कण्ठस्तालव्य एव च।
सर्वतश्च विभुर्योऽसौ
विभुत्वपददायकः ॥98॥

7/4/10

श्री ब्रह्मयामल तन्त्र में भी कहा है– विमर्श की भांति प्रकाशात्मक 'राव'– अन्तरात्मा में उच्चरित शब्द दस प्रकार के हैं– पहिला-स्थूल, सूक्ष्म और पर पश्यन्ति। स्थूल, सूक्ष्म पर मध्यमा। स्थूल, सूक्ष्म पर वैखरी। यह कुल मिलाकर नव बने। अब इन नवों का जो भिति रूप बना हुआ परावागात्मा है। वह दसवां राव है। यही क्रमशः हृदय, कंठ और तालु में हैं। हृदय में पश्यन्ति, कंठ में मध्यमा और तालु में वैखरी कही गई है।

महाराज जी ने इस प्रसंग में कहा–कि तुम सभी श्रोतागण हृदय को शरीर में ठहरे हुए हृदय को न मान बैठना। हृदय उसे कहते हैं जहां सभी प्रकार की सजगता सचेत होती है। उसी को निर्विकल्पधाम पश्यन्ति का रूप माना है।

यही परावाणी व्यापक होने से विभुत्व-पद को प्रदान करने वाली है।

अतः 'अन्तर्लक्ष्यों बहिर्दृष्टिः निमेषोन्मेष वर्जितः' इसी अवस्था का अनुसन्धान रखना चाहिये। जिससे पारमार्थिक स्वरूप लाभ की प्राप्ति होगी–

जितरावो महायोगी
संक्रामेत्परदेहगः।
परां च विन्दति व्याप्तिं
प्रत्यहं ह्यभ्यसेत् तम्
तावद्यावदरावे सा ॥99॥
रावाल्लीयेत राविणि।

ऊपरवर्णित दश राव-नादों को जिस महायोगी ने जीता हो- उनको क्रम-पूर्वक अपने अधीन किया हो वह परदेव-उत्कृष्ट स्वरूप परप्रमातृभाव में संक्रमण करके परावस्था को प्राप्त करता है। इस भांति उसी (परा) व्याप्ति का प्रतिदिन तब तक अभ्यास करना चाहिये जब तक वह 'राविणि' शब्दावलि से युक्त कुंडलिनी शक्ति 'रावात्'- एक के बाद एक नाद का लय करके 'अरावे' अहंपरामर्श में लीन हो जाये।

13-11-71

निम्न श्लोक का अर्थ करने से पहिले महाराज जी ने कहा- अब अनुजोद्देश में कहे गये आणवोपाय के पांचवें प्रमेय "पथ-लक्षण" का निर्णय अभिनवगुप्त जी करेंगे। पथ-लक्षण का अभिप्राय उस भैरवी-मुद्रा में प्रविष्ट होने के समय साधक किन-किन अवस्थाओं का अनुभव करता है- उन्हीं का निरूपण इस प्रमेय में करेंगे।

अत्र भावनया देह-
गतोपायैः परे पथि ॥100॥
विविक्षोः पूर्णतास्पर्शा-
त्प्रागानन्दः प्रजायते।

ततोऽपि विद्युदापात–
सदृशे देहवर्जिते॥101॥
धाम्नि क्षणं समावेशा–
दुद्भवः प्रस्फुटं प्लुतिः
जलपांसुवदभ्यस्त–
संविद्देहैक्यहानितः॥102॥
स्वबलाक्रमणाद्देह–
शैथिल्यात् कम्पमाप्नुयात्।
गलिते देहतादात्म्य–
निश्च्येऽन्तर्मुखत्वतः॥103॥
निद्रायते पुरा याव–
न्न रूढः संविदात्मनि।

मालिनी-विजय तन्त्र में 'आनन्दः, उद्भवः कंपः निद्रा, घूर्णिश्च पंचमः' – जो श्लोक कहा है उसी का लक्षण अभिनवगुप्त जी ने ऊपर के श्लोकों में किया है : –

अत्र–भैरवी मुद्रा की उपासना में,

भावनया– शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पर पुनः अभ्यास करने से।

देहगतोपायैः– आणवोपाय के द्वारा

परे पथि विवक्षोः– पर-मार्ग– प्रमातृ-धाम में प्रविष्ट होने के इच्छुक साधक को,

पूर्णात् स्पर्शात् – अहं परामर्श के केवल स्पर्श-मात्र से (उसे यह अनुभव होता है कि मैं ही आनन्द रूप हूं)।

प्राग्– प्रथम दशा में

आनन्दः– आत्यन्तिक आनन्द

प्रजायते– उत्पन्न होता है– वह अनुभव करता है।

ततोऽपि = इस भांति आनन्द का अनुभव करने के बाद।

विद्युदापात सदृशे = जैसे बिजली की धाम्नि– कौंध (दमक) के समय अन्य पदार्थ कोई नहीं दिखता केवल प्रकाश ही दिखाई देता है, उसी भांति इस धाम में भी आनन्द के अतिरिक्त देह–वर्जिते – देहाभास का अनुभव नहीं होता।

क्षणं समावेशात् उद्भवः प्रस्फुटं प्लुतिः – इस अवस्था में एक क्षण के लिए समाविष्ट होने से ऊर्ध्वगमन होता है।

जलपांसुवदभ्यस्त संविद्देहैक्य हानितः– जैसे जल में से गर्दे को निकाल कर जल निर्मल हो जाता है उसी भांति स्वरूपलाभ के समय भेद – प्रथा रूपी देहाभास की हानि से स्वबल आक्रमणात् देहशैथिल्यात् कंपमाप्नुयात् = चित्त–बल की प्राप्ति से देह का आभास दूर होने पर (स्वतः) कंप अवस्था प्राप्त होती है।

अन्तर्मुखत्वतः = इस भांति अन्तर्मुख होने से

देहतादात्म्य निश्चये– देहाभिमान पर दृढ़ता का निश्चय

गलिते– दूर होने से

पुरा– पहिले

यावत्– जब तक

संविदात्मनि– संवित्–स्वरूप में

न रूढ़: – ठीक से रूढ़ नहीं होता तो

निद्रायते– यह योग-निद्रा में चला जाता है।

ततः सत्यपदे रूढो
विश्वात्मत्वेन संविदम् ॥104॥
संविदन् घूर्णते घूर्णि–
मंहाव्याप्तिर्यतः स्मृता।

ततः सत्यपदेरूढो– इसके पश्चात् सत्य-पद में टिका हुआ,

विश्वात्मत्वेन = विश्वात्मक रूपतया,

संविदम्– संवित् का,

संविदन्– अनुभव करने से यह योगी,

घूर्णते– आनन्द में झूमने लगता है।

घूर्णिर्महा– इसे घूर्णि नाम वाली,

व्याप्तिः यतः – महा-व्याप्ति की अवस्था

स्मृता– कही जाती है।

ऊपरवर्णित श्लोकों पर प्रश्न करते हैं– जब साधक के लिए चिञ्चिनी आदि दसों अवस्थाओं को प्राप्त करने पर ही परम-सिद्धि मिलती है तो यहां केवल पांच सिद्धियों का ही क्यों वर्णन किया। इस शंका को सुलझाते हुए कहते हैं–

आत्मन्यनात्माभिमतौ
सत्यामेव ह्यनात्मनि ॥105॥
आत्माभिमानो देहादौ
बन्धो, मुक्तिस्तु तल्लयः।

आत्मनि अनात्मा– भिमत्तौ– आत्मा पर अनात्म अभिमान– मैं आत्मा नहीं हूं

एवहि = तथा

अनात्मनि देहादौ = अनात्मा शरीर आदि पर

आत्म–अभिमानः = शरीर ही मैं हूं

बन्धः–यही दो निश्चय बन्ध के कारण हैं।

तल्लयः तु मुक्तिः = इस अभिमान से छुटकारा पाना ही मुक्ति है।

इस श्लोक को ठीक से समझाते हुए महाराज जी ने कहा– उपासना क्रम के संसार में दो प्रकार का बन्धन माना है एक तो आत्मा पर अनात्म अभिमान का होना और दूसरा शरीर को ही आत्मा मानना। इसी को आणव – मल कहते हैं। विज्ञानाकल अवस्था में भी इसी आणव मल के कारण दो रूप होते हैं– एक तो स्वरूप–साक्षात्कार की प्राप्ति साधक को होती है किन्तु उसमें स्वातन्त्र्य–हानादानादि क्रिया नहीं कर पाता है। दूसरा रूप यह कि– हानादानादि क्रिया अपनी ओर से तो करने का यत्न करता है किन्तु स्वरूप–साक्षात्कार नहीं होता। इसी को दूसरे शब्दों में यूं कहते हैं– विश्वोत्तीर्ण अवस्था को प्राप्त करने पर विश्वमयता नहीं रहती और विश्वमयता में विश्वोत्तीर्णता नहीं रहती। ऐसा तभी होता है जबकि आणवमल का संस्कार साधक को बीज रूप से ठहरा होता है।

शंका की जाती है – उस आणवमल की समाप्ति एक बारगी होती है कि क्रम-पूर्वक –

आदावनात्मन्यात्मत्वे
लीने लब्धे निजात्मनि ॥106॥
आत्मन्यनात्मतानाशे
महाव्याप्तिः प्रवर्तते।

पहिले तो देह को आत्मा मानने का अज्ञान नष्ट होता है फिर वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति होने पर आत्मा पर अनात्म भावना के समाप्त होने के फल-स्वरूप महाव्याप्ति-शिवव्याप्ति प्रकट होती है।

इसी अभिप्राय से मालिनी-विजय तंत्र में कहा है –

आनन्दः उद्भवः कम्पो
निन्द्रा घूर्णिश्च पञ्चकम् ॥106॥
इत्युक्तमत एव श्री–
मालिनीविजयोत्तरे।

यही बात मालिनी-विजय तन्त्र में कही है– आनन्द, उद्भव, कंप, निद्रा, घूर्णि, पांच प्रकार की अवस्था साधक को प्राप्त होती है।

प्रश्न उपस्थित होता है– सम्पूर्ण लक्षण की प्राप्ति पर तो महाव्याप्ति का अनुभव होता है किन्तु यदि साधक को एक-एक लक्षण की ही प्राप्ति होगी– यदि किसी को आजन्म केवल आनन्दवस्था की ही प्राप्ति होगी तो उस साधक को क्या महाव्याप्ति नहीं होगी?

प्रदर्शितेऽस्मिन्नानन्द–
प्रभृतौ पञ्चके यदा ॥108॥
योगी विशेत्तदा तत्त–
च्चक्रेशत्वं हठाद्व्रजेत्।

अस्मिन् = इन

प्रदर्शिते पंचके = पांच अवस्थाओं के किसी भी एक में,

यदा = जब

योगी विशेत् = योगी प्रविष्ट हो तो

तदा तत्तच्चक्रेशत्वं = उस समय अवस्था के चक्रेश्वर भाव को

हठात् = एकबारगी

व्रजेत् = प्राप्त होता है।

इस पर प्रश्न करते हैं कि पूर्णता का स्पर्श होने से ही पूर्णता की प्राप्ति सम्भव हो सकती है यह तो मानी हुई बात है किन्तु एक-एक अवस्था का ही अनुभव करने से कैसे महाव्याप्ति का अनुभव होगा। इसको उदाहरण देकर समझाते हैं–

यथा सर्वेशिना बोधे
नाक्रान्तापि तनुः क्वचित् ॥109॥
किंचित्कर्तुं प्रभवति
चक्षुषा रूपसंविदम्।
तथैव चक्रे कुत्रापि
प्रवेशात्कोऽपि संभवेत् ॥110॥

जैसे शरीर में सर्वस्वतन्त्र बोध के व्याप्त होने पर भी, इन्द्रियों में अपना-अपना विषय अलग-अलग रूप से अनुभव किया जाता है जैसे नेत्र से केवल रूप ही दिखाई देता है उसी भांति किसी एक चक्र में प्रवेश करने से अलौकिक आनन्दादि अवस्था की प्राप्ति होती है।

प्रश्न करते हैं संक्षिप्त शब्दों में कौन किस अवस्था का चक्र है—

आनन्दचक्रं वह्न्यश्रि
कन्द उद्भव उच्यते।
कम्पो हृत्तालु निद्रा च
घूर्णिः स्यादूर्ध्वकुण्डली ॥111॥

आनन्द—चक्र की उपासना का स्थान त्रिकोण— योनि है। उद्भव-ऊर्ध्वता की उपासना कंद में कही गई है। इन दोनों के सम्पर्क के बाद हृदय में कंप का अनुभव होता है। उसके बाद तालु में निद्रा का अनुभव होता है और उसके बाद योगी को तो ऊर्ध्व कुंडलिनी पद की प्राप्ति होती है। उसे स्वरूप का लाभ होता है। (जबकि भोगी को विषयानन्द का अनुभव होने पर अधः पतन होकर संसार-चक्र में आवागमन होता रहता है।)

प्रश्न करते हैं कि इन अवस्थाओं का निर्णय किस आधार पर किया गया है—

एतच्च स्फुटमेवोक्तं
श्रीमन्त्रैशिरसे मते।

इस विषय का भली-भांति निर्णय त्रिशिरो-भैरव तन्त्र में किया गया है।

एंवं प्रदर्शितोच्चार
विश्रान्तिहृदयं परम् ॥112॥
यत्तदव्यक्तलिङ्ग नृ-
शिवशक्त्यविभागवत्।

इस भांति दिखाये हुये उच्चारादि का जो उत्कृष्ट विश्रान्ति रूप हृदय है, वह जीव-शक्ति और शिव के साथ अभिन्न होकर ठहरा है। उसे अव्यक्त-लिङ्ग कहते हैं।

इस प्रकार कहने का तात्पर्य क्या है?

अत्र विश्वमिदं लीन-
मत्रान्तस्थं च गम्यते। 113॥
इदं तल्लक्षणं पूर्ण-
शक्तिभैरवसंविदः॥

इसी अव्यक्त लिंग में यह, नर शक्ति और शिव रूप लिंग निर्विभाग रूप से लीन बना है और इसी में ठहरा हुआ जाना जाता है- अहं परामर्श की भित्ति पर ही ये तीनों लिङ्ग अनुभव में आते हैं। यही भैरव संविद् शक्ति का लक्षण है- विश्व का उद्भव वहीं से होता है और अन्त भी उसी में होता है।

निम्न श्लोक का अर्थ करने से पहिले महाराज जी ने कहा- भैरवी-मुद्रा में प्रवेश करने के लिए पांच दशाओं का आश्रय लिया जाता है- आनन्द, उद्भव, कंप, निद्रा और घूर्णि। इसे अव्यक्त लिंग भी कहते हैं। इनका वर्णन हम पहिले कर चुके हैं।

लिंग तीन प्रकार के हैं– व्यक्त नरलिंग, व्यक्ताव्यक्त– शक्तिलिंग और अव्यक्त शिवलिंग या शाम्भव लिंग। अब शिवलिंग से अन्य, दो लिंग नर तथा शक्तिलिंग क्या इसी पर-संवित्ति के ही स्फार हैं कि इनकी अपनी भिन्न सत्ता है?

देहगाध्वसमुन्मेषे
समावेशस्तु यः स्फुटः॥114॥
अहंताच्छादितोन्मेषि–
भावेदंभावयुक् स च।

(देह अभिमान रूप परामर्श जगत् में) शरीर में ठहरे हुए षडध्वा का स्वरूप-समावेश जो स्फुट रूप से होता है वह अपरिमित अहंभाव से आच्छादित अहंभाव और इदंभाव से सम्बन्धित होने के कारण व्यक्ताव्यक्त लिंग कहलाता हैं। यही परापर रूप मन्त्रवीर्य है।

व्यक्ताव्यक्तमिदं लिङ्गं
मन्त्रवीर्यं परापरम्॥ 115॥
नरशक्तिसमुन्मेषि
शिवरूपाद्विभेदितम्।

इस व्याव्यक्त रूप लिङ्ग में नर-भेद, शक्ति–अभेद का समावेश होने से यह अवस्था शिव रूप से भिन्न-दूसरी मानी जाती है।

शिव–दशा में शुद्ध अहं परामर्श का समावेश है इस शक्तिदशा में शुद्धाशुद्ध अहंपरामर्श का आधिक्य है। अतः इसी शाक्त–दशा में ही अभ्यास करने से मन्त्र फलदायक बनता है। नर–भाव में जड़ता–अज्ञान के कारण और शिव–भाव में केवल ज्ञान के

कारण मन्त्र, फल नहीं देता। इसीलिए कहा है कि सिद्धि-दायक, शक्ति-तत्व ही है। अतः यह व्यक्ताव्यक्त लिंग भी उसी अव्यक्तलिंग का ही स्फार है।

न केवल शक्ति-लिंग ही उस शाम्भव-लिंग का स्फार है बल्कि नर-लिङ्ग भी उसी अव्यक्त-लिङ्ग का स्फार है। यही कहते हैं-

यन्यक्कृतशिवाहन्ता-
समावेशं विभेदवत्॥ 116॥
विशेषस्पन्दरूपं तद्
व्यक्तं लिङ्गं चिदात्मकम्

जिस अवस्था में न्यक्कार-दबाये हुए शिवावस्था का भेद से युक्त समावेश हो उसे विशेष स्पन्द रूप व्यक्त-लिंग कहते हैं। इसकी भित्ति भी चिद् रूप ही है।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए महाराज जी ने कहा- स्पन्द दो प्रकार के हैं- एक तो सामान्य स्पन्द जिसे अलंग्रास युक्ति कहते हैं और दूसरा विशेष-स्पन्द है। पहिले में कुंडिलिनी की जागृति शक्तिपातवश स्वतः एकाबारगी हो जाती है। दूसरे स्पन्द में बहुत प्रयास करने के बाद स्वरूप-साक्षात्कार होता है। इसमें षट्चक्रभेदन होता है जिसे विशेष-स्पन्द ही माना गया है। ब्रह्मरन्ध्र में कुंडलिनी शक्ति का एकबारगी पहुंचना सामान्य स्पन्द कहलाता है।

इन तीनों अवस्थाओं का न केवल स्वरूप में ही पारस्परिक अंतर है अपितु फल देने में भी भिन्नता है-

व्यक्तात्मिुद्धिम्रप्रसवो
व्यक्ताव्यक्ताद्वयं विमोक्षश्च।
अव्यात्क्ताद्बलमाद्यं
परस्य नानुत्तरे त्वियं चर्चा॥117॥

व्यक्त– नरलिंग की उपासना से जगत् सम्बन्धि भोग की प्राप्ति होती है। व्यक्ताव्यक्त–शक्तिलिंग की उपासना से भोग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति होती है। अव्यक्त–लिंग–चित्तबल व्याव्यक्त का बल आधार है। अनुत्तरधाम में इन कल्पनाओं की वार्ता ही नहीं है। यह कहने का अभिप्राय क्या है?

तेनात्मलिङ्गमेतत्
परमे शिवशशतयणुस्वभावमये।
अव्यक्ते विश्राम्यति
नानुत्तरगा त्वियं चर्चा॥119॥

यही आत्म–लिंग जिसे नर लिंग या व्यक्त लिंग भी कहते हैं, परम–अव्यक्त लिंग जिसमें शक्ति तथा नर स्वभाव भी है ही, उसी में ये सभी लिंग स्थित हैं किन्तु अनुत्तरधाम में इन बातों की चर्चा ही नहीं है।

इस श्लोक का अर्थ करने के बाद महाराज जी ने शैव तथा वेदान्त का अन्तर संक्षिप्त शब्दों में कहा– शैव वेदान्तमत की भांति विश्व–विवेचन का सिद्धान्त नहीं मानता है वह विश्वार्पणरूपता का समावेश मानता है। वेदान्त जहां शब्दादि पांच विषयों का त्याग करके ही आत्म–साक्षात्कार के योग्य साधक को मानता है वहां शैव इन्हीं पांच विषय रूप विश्व को उसी

परमानन्द में अर्पण करके स्वात्मानन्द का चमत्कार अनुभव करने की चेतावनी देता है।

एकस्य स्पन्दनस्यैषा
त्रैधं भेदव्यवस्थितिः।
अत्र लिङ्गे सदातिष्ठेत्
पूजाविश्रान्तितत्परः॥120॥

यह तीन प्रकार की भेदात्मक स्थिति एक ही अव्यक्त स्पन्दन का स्फार है। पूजा से उत्पन्न विश्रान्ति में ठहरे हुए योगी को सदा इसी आध्यात्मिक लिंग में टिकना चाहिये।

इस योगिनी–हृदय में विश्रान्ति प्राप्त करने से क्या फल होता है–

योगिनीहृदयं लिङ्ग–
मिदमानन्दसुन्दरम्।
बीजयोनि समापत्त्या
सूते कामपि संविदम् ॥121॥

यह योगिनी-हृदय नाम वाला लिङ्ग आनन्द से सुन्दर बना है। शिव-बीज और शक्ति की एकता होने से किसी अलौकिक संवित् का अनुभव होता है। (अहम् भाव तथा इदम् भाव जब अनुत्तर लिंग में लीन हो जाता है तो तुर्य का चमत्कार स्फुट हो जाता है।)

अत्र प्रयासविरहा
त्सर्वोऽसौ देवतागणः।

आनन्दपूर्णे धाम्न्यास्ते
नित्योदितचिदात्मकः ॥122॥

इस योगिनी-हृदय में बिना प्रयास के ही सभी इन्द्रिय-देवियां, आनन्दपूर्ण निर्विकल्प धाम में प्रविष्ट होती हैं। यह इन्द्रिय देवियां (स्वभावतः) सदा सजग बनी हुई चिद् रूप ही हैं।

इस त्रिकोण में– अभ्यास परायण योगी के प्राण जब कुंडलिनी के स्थान त्रिकोण का स्पर्श करते हैं, उस समय न केवल वहां देवता ही होते हैं, अपितु पारमेश्वरी शक्ति भी वहीं होती हैं।

महाराज जी ने उदाहरण देते हुए यह निम्न श्लोक पढ़ा–

चन्द्राग्निरविनक्षत्रैर्भुवनानि चतुर्दश
क्षिप्त्वादरे तु या देवी विषमूदेवतागता॥

जब यह कुंडलिनी शक्ति सुप्तावस्था में होती है इसके मध्य में चांद, अग्नि, सूर्य, तारागण तथा चौदह, भुवन ठहरे होते हैं।

अत्र भैरवनाथस्य
ससंकोचविकासिका।
भासते दुर्घटा शक्ति–
रसंकोचविकासिनः ॥123॥

इस आनन्दपूर्ण त्रिकोण–धाम में सदा विकास से युक्त भैरवनाथ की, संकोच का विकास करने वाली अघटघटनापटीयसी स्वातन्त्र्य शक्ति का स्फार होता है। इसी से जगत की सृष्टि और संहार का उद्गम होता है।

इस कथन की व्यख्या निम्न श्लोक में करते हैं–

एतल्लिङ्गसमापत्ति
विसर्गानन्दधारया।
सिक्तं तदेव सद्विश्वं
शश्वन्नवनवायते ॥124॥

इस अनुत्तर-धाम रूप त्रिकोण में, लिङ्ग के ऐक्य होने से विसर्ग–स्वातन्त्र्य रूप कौलिकी शक्ति की सिद्धि होती है, इसकी आनन्द-धारा से सिक्त होकर जगत् नवीनता को प्राप्त होता है। सृष्टि, संहार आदि अवस्थाओं का रूप धारण करता रहता है। यह तो हुई अभ्यास परक बात (जगत् में भी बीज योनि के सम्बन्ध से स्त्री, पुरुष आदि की सृष्टि होती रहती है)।

नोट– प्रसंगवश महाराज जी ने यह भी कहा कि जब प्राणापान का प्रवेश सुषुम्ना धाम में होता है तो वह एकबारगी बड़े वेग से होता है। धीरे-धीरे नहीं होता।

प्रश्न करते हैं– बुद्धि, ध्यान प्राण तत्त्व-समुच्चार आदि का लक्षण तो आणवोपाय के अनुकूल होने से, इस उपाय में कहना ठीक है पर 'परतत्त्वन्तः प्रवेश' को आणवोपाय में कहना कैसे युक्त है। इस पर कहते हैं–

अनुत्तरेऽभ्यूपायोऽत्र
ताद्रूप्यादेव वर्णितः।
ज्वलितेष्वपि दीपेषु
घर्मांशु किं न भासते् ॥125॥

इस आणवोपाय में अनुत्तर की प्राप्ति के लिए यह 'परतत्त्वान्तः प्रवेश' उपाय अनुत्तर-स्वरूप से युक्त ही कहा है। इन उपायों में

भी शांभव-स्थिति स्वतः है ही। जैसे यदि दिन में दीपक आदि जलते होंगे तो क्या सूर्य-भगवान नहीं होंगे। इसी भांति आणवोपाय में भी यह पर-अवस्था है ही।

अब प्रश्न उठता है – कि जब यही बात है तो इन तीनों उपायों का वर्णन एक ही आह्निक में करना चाहिये था भिन्न-भिन्न आह्निकों में इनका निरूपण करने का क्या प्रयोजन है?

अर्थेषु तद्भोगविधौ तदुत्थे
दुःखे सुखे वा गलिताभिशङ्कम
अनाविशन्तोऽपि निमग्नचित्ता
जानन्ति वृत्तिक्षयसौख्यमन्तः॥126॥

पदार्थों में उनके भोग से उत्पन्न दुःख या सुख से न्यारा रहने वाला साधक, निर्विकल्प दशा के होने के कारण उस सभी व्यवहार में अनासक्त होकर ही वृत्तियों के क्षय होने से अनुत्तर सुख का अनुभव अपनी अन्तरात्मा में ही करता है। इस श्लोक की टीका में जयरथ कहते हैं–

अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः
परमं पदं अश्नते।

बाह्य-दृष्टि के होते हुए भी ऐसे योगी का लक्ष्य अन्तरात्मा पर ही होता है। अतः वह परमपद को ही प्राप्त करता है। यही निम्न श्लोक में कहते हैं:–

सत्येवात्मनि चित्स्वभावमहसि
स्वान्ते तथोपक्रियां

तस्मै कुर्वति तत्प्रचारविवशे
सत्यक्षवर्गेऽपिच।
सत्स्वर्थेषु सुखादिषु स्फुटतरं
यद्भेदवन्ध्योदयं
योगी तिष्ठति पूर्णरश्मिविभव–
स्तत्तत्वंमाचीयताम् ॥127॥

चित्स्वभावमहसि = चित्-प्रकाश के
आत्मनि-सति = आत्मा में प्रकट होने पर
स्वान्ते = हृदय (तथा)
तत्प्रचार विवशे = व्यवहार में बेबस बनी हुई
अक्षवर्गे सति अपि = इन्द्रियांभी
तस्मै = उस स्वरूप-सम्पन्न योगी को
तथा उपक्रियां = उसी के अनुकूल उपकार
कुर्वति = करती हैं।
सुखादिषु = सुख-दु:ख आदि
सत्स्वर्थेषु = के होने पर भी।
स्फुटतरं = अत्यन्त स्फुट रूप से
यत् भेदवन्ध्योदयं = भेद-रहित होने से उत्पन्न
पूर्ण रश्मि-विभवः = परिपूर्ण योगैश्वर्य सम्पन्न
योगी तिष्ठति = योगी जिस दशा में ठहरता है
तत्तत्वमाचीयताम् = उस तत्त्व का (आप) विमर्श करें।

ऊपरवर्णित श्लोक का निर्णय करते हुए महाराज़ जी ने कहा– बुद्धि-प्रमातृभाव में भेद का आसूत्रण होता है। देह प्रमातृ

भाव में भेद-विभाग स्फुट हो जाता है। पर प्रमातृभाव में अभेद विभाग ही रहता है।

कहने का तात्पर्य यह है– आणवोपाय में शांभवोपाय की स्थिति से युक्त योगी, ग्राह्य तथा ग्राहक रूप बाहर के क्षोभ से युक्त होने पर भी उसकी आसक्ति को छोड़कर तात्त्विक स्वात्मा में भैरव-मुद्रा का आश्रय लेकर ही सदा विचरण करता है।

अब परतत्त्व में प्रवेश रूप उच्चार-विधि का विषय निर्णय करने के बाद अनुजोद्देश में कहे गये 'करण-विधि' छः प्रमेय का निर्णय करते हैं। यही कहते हैं–

इत्युच्चारविधिः प्रोक्तः
करणं प्रविविच्यते।

उच्चार दो प्रकार का है। एक प्राण– उच्चार– दूसरा चिदात्मा-उच्चार। चिदात्मा उच्चार भी दो प्रकार का है चित्प्रधान और विमर्श-प्रधान। उच्चार कुल मिलाकर तीन प्रकार का हुआ।

वह करण-उपासना आचार्य जी कहते हैं– हम ने मनगढंत ही नहीं कही है, त्रिशिरोभैरव इस कथन की पुष्टि करता है–

तच्चेत्थं त्रिशिरः शास्त्रे
परमेशेन भाषितम्

इसी प्रसंग को त्रिशिरोभैरव शास्त्र में परम-शिव ने कहा है।

ग्राह्यग्राहकचिद्व्याप्ति–
त्यागाक्षेपनिवेशनैः।
करणं सप्तधा प्राहु–
रभ्यासं बोधपूर्वकम् ॥128॥

तद्व्याप्ति पूर्वमाक्षेपे
करणं स्वप्रतिष्ठिता ॥129॥

ग्राह्य, ग्राहक, चित्, व्याप्ति, त्याग क्षेप और निवेशन, इस भांति करण– उपासना बोधपूर्वक़ सात प्रकार की कही गई है। यह विश्व-आक्षेप व्याप्ति-पूर्वक है– इन्हीं सात करणों में सम्पूर्ण विश्व की स्थिति कही गई है। यह करण-उपासना, स्वरूप-निष्ठ बनने का साधन है।

ध्यान रहे कि यह उपासना आणवोपाय में शांभव– स्थिति की प्राप्ति के लिए कही गई है।

प्रश्न करते हैं कि इस करणोंपासना की विधि न कह कर केवल आगम-पाठ– मात्र कहने का क्या प्रयोजन है–

गुरुववक्त्राच्च बोद्धव्यं
करणं यद्यपि स्फुटम् ॥130॥
तथाप्यागमरक्षार्थं
तदग्रे वर्णयिष्यते।

यद्यपि यह करणोपासना की विधि केवल-मात्र गुरु-मुख से ही जानने योग्य है तथापि शास्त्र परम्परा को सुरक्षित रखने के लिए हम अगले आह्निकों में भिन्न-भिन्न स्थलों में इसका निर्णय करेंगे।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए प्रसंगवश महाराज जी ने कहा– यदि छतीसवें तत्त्व में शिव-साक्ष्यात्कार की प्राप्ति न हो तो सैंतीसवें तत्त्व में जाकर शिव को प्राप्त करना चाहिये। यदि

वहां भी प्राप्त न हो तो अठतीसवें तत्त्व में जाना चाहिये। यदि वहां भी स्वरूप-प्रथन न हो तो फिर सैतीसवें तत्त्व में देखने का प्रयत्न करना चाहिये। इस दशा में एक तत्त्व तो वेद्य बनेगा और दूसरा तत्त्व वेदक रहेगा। यह कहने का अभिप्राय यही है कि इस रीति में अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा।

इसी प्रसंग को कहते हुए मुद्रा शब्द के विषय में कहा— तन्त्रालोक के बतीसवें (32) आह्निक में अभिनव गुप्त जी ने मुद्रा की व्याख्या निम्न श्लोक में की है—

मुदं स्वरूपलाभाख्यं
देहद्वारेणचात्मना।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता।।

करण-तत्त्व के स्वरूप का सूत्रपात करने के बाद 'वर्ण तत्त्व' का निर्णय करते हैं—

उक्तो य एष उच्चार-
स्तत्र योऽसौ स्फुरन् स्थितः ।।131।।

अव्यक्तानुकृतिप्रायो
ध्वनिर्वर्णः स कथ्यते।

(पीछे वर्णित) जो यह प्राणनात्मा चिदात्मा का उच्चार कहा है, वहां जो यह सदोदित उच्चार ठहरा ही है वह अव्यक्त अनुकृतिप्राय— साक्षात्कार रूप से ध्वनि, वर्ण रूप से नाद कहा जाता है।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए महाराज जी ने कहा— अनथक प्राणापान की उपासना के बाद जिस किसी अवस्था

विशेष का अनुभव होता है उसे प्राणोच्चार कहते हैं। इसी का वर्णन ऊपर के श्लोक में किया गया है। पूर्व-वर्णित निजानन्द, निरानन्द आदि षडानन्द का जो उल्लेख किया है वो भी प्राणोच्चार में ही सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त ॐ नमः शिवाय आदि मन्त्रों के सतत् उच्चारण करने के बाद जो नाद साधक को अनुभव होता है उसे भी प्राणोच्चार ही कहते हैं। यह प्राणोच्चार जिसे ध्वनि, वर्ण या नाद कहते हैं यह उच्चार काल तथा अनुच्चार काल में भी अवस्थित है ही अतः इसी को अनाहत नाद भी कहते हैं।

अक्षर दो प्रकार का है। एक तो सामान्य और दूसरा विमर्श रूप। इस नाद को यद्यपि अक्षर नहीं कहना चाहिये था किन्तु सम्पूर्ण अक्षरों और वर्णों की उत्पत्ति इसी अनाहत नाद से ही हुई है अतः इसे अक्षर भी कहते हैं।

प्रश्न करते हैं कि इस प्रकार का अव्यक्त अनाहत वर्ण कैसे जाना जाता है– किस उपासना से अनुभव में आता है।

इस पर कहते हैं–

सुष्टिसंहारबीजं च
तस्य मुख्यं वपुर्विदुः ॥132॥

उस नाद का मुख्य स्वरूप सृष्टि तथा संहार बीज है।

इसकी व्याख्या करते हुए महाराज जी ने कहा– उपासना क्रम में "ॐ नमः शिवाय" यह तो स्वरसहित बीजाक्षर है और क्लीं आदि स्वरहित होने पर पिंडाक्षर कहलाते हैं। अतः सौ पराबीज और रक्ष्खऐं पिंडनाथ कहलाया जाता है।

इधर उपासना क्रम में अहंपरामर्श सौः सृष्टि प्रधान है तथा महअ परामर्श दशा में रक्षखऐं संहार प्रधान है।

इसी कथन को और भी सुलझाते हुए कहा कि अहं-परामर्श को इदन्ता में देखना सृष्टि है और इदन्ता को अहंपरामर्श में देखना संहार है।

प्रश्न करने वाला कहता है कि इस भांति विमर्श करने से फल क्या होगा–

तदभ्यासवशाद्याति
क्रमाद्योगी चिदात्मताम् ।

इस अन्तर्नाद का अभ्यास करने से योगी चिद्रूपता को प्राप्त करता है।

महाराज जी ने कहा कि यदि वर्ण का स्वरूप चिदात्मा है ही फिर अनाहत रूपता कैसे सिद्ध होगी? इसी को सुलझाते हुए कहते हैं कि अहंता और इदंता को सृष्टि संहार करने के अभ्यास से योगी चिदात्मा का साक्षात्कार करता है।

इसी भांति अनच्क (स्वर-रहित, पिंडाक्षर तथा अच् स्वर) सहित बीजाक्षर पहिला वर्ण क् और अन्तिम वर्ण 'स्' का जप काल में बार-बार उच्चारण किया हो और साथ ही उसका स्मरण– तदर्थभावना की हो तो वह अभीष्ट मनोवांछित संवित उत्पन्न होती है– व्यक्ति जिस फल की इच्छा करे वह फल उसे मिलता है। यही कहते हैं–

तथा ह्यनच्के साच्के वा
कादौ सान्ते पुनः पुनः ॥133॥

स्मृते प्रोच्चारिते वापि
सा सा संवित्प्रसूयते।

पहिला जो व्यञ्जन स्वर-रहित है– वह पिंडाक्षर रूप मन्त्र और जीव: स वर्ण वामजंगा औकार सहित बीजाक्षर सौ:। इसी भांति मन्त्र समुदाय का न केवल जप करने से बल्कि उनके सार्थक स्वरूप का ध्यान करने से रोगी को भयावह कष्टों से छुटकारा देना या मृत्यु-ग्रस्त शिष्य को आप्यायन करना आदि सभी कामनायें सिद्ध होती हैं।

महाराज जी ने कहा कि मालिनी – विजय – तंत्र में मालिनी न्यास और मातृका-न्यास का वर्णन करते हुए जीव के प्रत्येक अंग में वर्ण माला के अक्षरों का स्थान निर्धारित किया है। वहां वामजङ्गा में औ का स्थान है। अत: शास्त्रकारों ने औ का परिभाषिक नाम वामजंगा ही रखा।

अगले श्लोक की अवतरणिका को समझाते हुए गुरु महाराज जी ने कहा– उदाहरण के रूप में 'ऐनक' शब्द में ऐनक की आकृति तो वाच्य है ऐनक शब्द वाच्यार्थ है। स्वभावत: वाच्य से वाच्यार्थ भिन्न होता है। पर मन्त्र-सम्बन्धि वर्ग में यह सिद्धान्त लागू नहीं होता। यहां तो वाच्य शिव के साथ वाच्य ॐ नम: शिवाय का अभिन्न सम्बन्ध है। इसी बात को यह निम्न श्लोक कहता है–

बाह्यार्थसमयापेक्षा
घटाद्या ध्वनयोऽपिये ॥134॥
तेऽप्यर्थभावनां कुर्यु
र्मनोराज्यवदात्मनि।

जो घट-पट आदि बाह्य पदार्थों को जताने वाली ध्वनियां हैं वे भी पदार्थ को प्रकट करने वाली भावना को मनोराज्य की भांति सिद्ध करती है।

कहने का भाव यह है- न केवल वाच्यार्थ से अभिन्न मंत्र-वर्ग ही इष्ट-देवता का साक्षात्कार कराने में समर्थ हैं अपितु साधारण पदार्थ का नाम भी अपने इच्छित पदार्थ को सम्मुख ला सकता है। इसी भांति प्रबल मानसिक संकल्प के आते ही प्रिया अथवा प्रिय संकल्पकर्त्ता के सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

शास्त्र भी कहता है-

तदुक्तं परमेशेन
भैरवो व्यापकोऽखिले ॥135॥
इति भैरवशब्दस्य
संततोच्चारणच्छिवः।

यही बात परमेश्वर ने विज्ञान-भैरव तंत्र में कही है- भैरव, जो सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है, उसका सदा जप करने से जीव शिव भैरव ही बनता है।

इस श्लोक को समझाते हुए महाराज जी ने कहा- पहिले यह अनुसंधान करना है कि 'मैं ही भैरव हूं'' तब फिर स्मरण और उच्चारण करने पर इसमें भैरव के सभी लक्षण आ जाते हैं और साधक भैरव रूप ही बनता है।

इस श्लोक की टीका में 'हृदयात् द्वादशान्तम् का वाक्य आया है। देवी शारिका जी ने प्रश्न किया- इस अवस्था में हृदय और

द्वादशान्त किसे कहेंगे। तब महाराज जी ने कहा कि "विश्वप्रतिष्ठास्थानत्वात् हृदयम्"। इस अवस्था में इदंता का आस्पद सम्पूर्ण जगत है और अर्न्तद्वादशान्त अहंता को कहते हैं। इदंता को अहंता में देखना और अहंता को इदंता में देखना ही भैरव रूप बनना है।

अब प्रश्न यह है कि जब भैरव के उच्चारण से ही भैरव बनने की सिद्धि होती है तो स्मरण करने का क्या अभिप्राय है। यही कहते हैं–

श्रीमन्त्रैशिरसेऽप्युक्तं
मन्त्रोद्धारस्य पूर्वतः ॥136॥

श्री त्रिशिरोभैरव में 'मन्त्रोद्धार' का निर्णय करते हुए 'स्मरण' की विशेषता कही है।

ईश्वर– प्रत्यभिज्ञा विवृत्ति में उत्पलदेव जी ने ग्यारह सौ (1100) वर्ष पहिले यह वाक्यावलि कही है–

तत एव सकलसिद्धिवितरण–
चतुरचिन्तामणिप्रख्यमागमि–
काः स्मरणमेव मन्त्रादि–
प्राणितं मन्यन्ते॥

ई.प्र.वि. (114/1)

इसीलिए तन्त्रों को जानने वाले गुरुजन स्मरण को ही मन्त्रादि को जीवित रखने वाला मुख्य कारण मानते हैं।

स्मरण ही चिन्तामणि रत्न की भांति सभी सिद्धियों को प्रदान कर सकता है–

स्मृतिश्च स्मरणं पूर्वं
सर्वभावेषु वस्तुतः।
मन्त्रस्वरूपं तद्भाव्य–
स्वरूपापत्तियोजकम् ॥137॥

स्मृति ही स्मरण कहलाता है। वास्तव में सभी वाच्य और वाचक रूप पदार्थों में मन्त्र-स्वरूप बनी हुई पर-प्रमातृता प्रथमाभासरूपा संवित् ठहरी है वही स्मृति का रूप बन कर पदार्थ के स्वरूप को सिद्ध करने में सहायक बनती है।

इस श्लोक की व्याख्या महाराज जी ने प्रत्यभिज्ञा के आधार पर की। 'स एवाऽयं देवदत्तः यह विमर्श तो प्रत्यभिज्ञा को सिद्ध करता है। अयं घटः' यह अनुभवज्ञान को प्रत्यक्ष दिखाता है। 'स' इति यह स्मरण का द्योतक है। अब यदि मन्त्र स्वरूप के साथ यह अनुभूत पदार्थ ऐक्य होकर न ठहरें तो स्मृति का स्वरूप ही सिद्ध न होगा। निम्न श्लोक यही बात कहता है–

सर्वेऽनुभूता यदि नान्तरर्था–
स्त्वदात्मसात्कारसुरक्षितः स्युः
विज्ञातवस्त्वप्रतिमोषरूपा
काचित् स्मृतिर्नाम न संभवेतत्॥

यह स्तोत्र भगवान के प्रति भक्त कहता है– यदि सभी अनुभव में आये हुए पदार्थ अन्तरात्मा में ठहर कर आप प्रभु के साथ तन्मय बन कर सुरक्षित न रहते तो जाने हुए पदार्थों को न भूलने वाली स्मृति का स्वरूप ही कैसे सम्भव होता।

बात यूं है सभी जगत् सम्बन्धि पदार्थ पहिले प्रथमाभास रूप मन्त्र स्वरूप में ठहरते हैं तभी वह स्मृति में पनप पाते हैं। यदि यह न होता तो स्मृति का रूप ही सिद्ध न होता। यही निम्न दो श्लोकों में कहते हैं–

स्मृतिः स्वरूपजनिका
सर्वभावेषु रञ्जिका।
अनेकाकाररूपेण
सर्वत्रावस्थितेन तु ॥138॥
स्वस्वभावस्य संप्राप्तिः
संवित्तिः परमार्थतः।
व्यक्तिनिष्ठा ततो विद्धि
सत्ता सा कीर्तिता परा ॥139॥

स्मृतिः = स्मृति तो

व्यक्तिनिष्ठा = तदानीन्तनकाल रूप अनुभव में ठहरी है।

स्वरूप जनिका = तथा इदानीन्तन कालवर्ति स्वरूप को उत्पन्न करती है।

सर्वभावेषु रञ्जिका = सभी पदार्थों को स्मृतिकाल में प्रकट करती है।

अनेकाकाररूपेण = वर्तमानकाल और भूतकाल के रूप से

सर्वत्रावस्थितेन तु = अनुभवकाल और स्मरणकाल दोनों में ठहरी है।

स्वस्वभावस्य संप्राप्तिः = अतः यह स्मृति, अपने इच्छित स्वरूप को प्राप्त करने का कारण है।

संविति परमार्थतः = (इस भांति) यह पारमार्थिक संविति है।

ततो = अतः

सा परा सत्ता = वह स्मृति पर सत्ता

कीर्तिता = कही जाती है

विद्धि = ऐसा जानना चाहिये।

महाराज जी ने कहा– इस श्लोक में स्मरण की महत्ता कही है कि स्मृति ही एक ऐसी अपूर्व सत्ता है जिसके सहारे व्यक्ति भूतकाल के पदार्थ को वर्तमान काल में अपने मस्तिष्क में देख सकता है। इसी भांति भगवान् की नाम-स्मरणा जीव को भगवान् के साथ मिला देती है। यदि साधक अहर्निश बिना किसी अन्य विचार के प्रभु का स्मरण करेगा तो 'भगवान् की स्मृति भगवान् में ही ठहरी है', यह कथन उसे प्रत्यक्ष अनुभव होगा।

साधारण लौकिक घट-वस्तु का बार-बार स्मरण तथा उच्चारण करने से जब वह घट संविति प्रत्यक्ष हो जाती है तो फिर बीजाक्षर या पिंडाक्षर के जपने या स्मरण करने से स्वरूप साक्षात्कार क्यों न होगा? अवश्य होगा। यही कहते हैं–

किं पुनः समयापेक्षां
विना ये बीजपिण्डकाः।
संविदं स्पन्दयन्त्येते
नेयुः संविदुपायताम् ॥140॥

जो मन्त्र-समुदाय किसी विशेष संकेत के बिना-वाच्य के साथ अभिन्न ठहरे हुए बीजाक्षर और पिंडाक्षर हैं, जो संवित्-धाम

को उछालने में समर्थ हैं, वे फिर क्यों संवित् को प्रकट बनने के उपाय नहीं बनेंगे। (अवश्य बनेंगे)।

प्रश्न करते हैं– ये बीजाक्षर और पिंडाक्षर बिना संकेत के कैसे स्वरूप-साक्षात्कार कराने में सहायक बनते हैं। निम्न श्लोक में यही कहते हैं–

वाच्यभावादुदासीन–
संवित्स्पन्दात्स्वधामतः।
प्राणोल्लासनिरोधाभ्यां
बीजपिण्डेषु पूर्णता ॥141॥

सामान्य पदार्थों में वाच्य और वाचक में भेद रहता है पर इन मन्त्रों में वाच्य के साथ अभेद रहता है इसीलिए ये मन्त्र उदासीन-अन्तर्मुख अवस्था में ठहरे हैं। संवित्-स्पन्दन के स्फार से युक्त हैं और विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण रूप अन्तर्मुख दशा में ठहरे होने से इन बीजाक्षर सौः और पिंडाक्षर र्ख्क्षें में पूर्णतामय भैरवरूपता सिद्ध है।

सामान्य रूप में कह कर अब विशेष रूप में भी कहते हैं–

सुखसीत्कारसत्सम्य–
क्साम्यप्रथमसंविदः।
संवेदनं हि प्रथमं
स्पर्शोऽनुत्तरसंविदः ॥142॥

अनुत्तर संवित् का जो स्पर्श है उस स्पर्श के सुख संबन्धि 'स' वर्ण की उत्पत्ति जो कि भली-भांति साम्यवस्था राग द्वेष आदि के त्याग के बाद उत्पन्न होती है, उसमें पृथ्वी से लेकर

माया तक 31 तत्त्वों का समावेश है। इसी 'स' वर्ण पर एकाग्रता करने से योगी 'लंबिकाचतुष्पथ' के मार्ग में प्रवेश करता है। इस भांति इस श्लोक में पराबीज के स वर्ण का उद्धार-निर्णय किया।

हृत्कण्ठयोष्ठयत्रिधामान्त–
र्नितरां प्रविकासिनि।
चतुर्दशः प्रवेशो य–
एकीकृततदात्मकः ॥143॥

हृदय वर्ग अ और कंठयोष्ठय– अ+ऊ के मेल से उत्पन्न औ जिसे निरंजन धाम, शूलबीज, इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीन धाम-तेज का पिंड कहते हैं उसमें विकसित बनी हुई संवित् को चौदहवें अक्षर औ में प्रवेश होना कहते हैं। इस दशा में आकर योगी प्रमाण रूप प्राणों के द्वारा प्रमेय जगत् को प्रमाता में ठहरा कर तद रूप ही बन जाता है। इस भांति 'औ' वर्ण का निर्णय भी किया।

ततो विसर्गोच्चारांशे
द्वादशान्तपथावुभौ।
हृदयेन सहैकध्यं
नयते जपतत्परः ॥144॥

इस अवस्था के बाद विसर्ग (:) शिव-बिन्दु और शक्ति बिन्दु के उच्चरित होने पर– 'क्रम-मुद्रा' अवस्था-विशेष का आपसे आप ही उदय होने पर नासिक्य द्वादशान्त और शिवद्वादशान्त दोनों– को हृदय स और औकार के साथ अहंपरामर्श में टिके हुए योगी को संवित् के साथ ऐक्य हो जाता है। वह इस क्रम-मुद्रा

दशा में प्रत्यक्ष रूप से बल-पूर्वक एक क्षण में बाह्य संसार को अपने में स्वात्मसात् करता है और दूसरे क्षण में आत्मा का स्फार, बाह्य रूप में देखता है। नेत्र, का उन्मीलन और निमीलन स्वभावत: होता है। ऐसा होने को ही विसर्गातवस्था में प्रविष्ट होना कहते हैं। इसी को 'सौ:' बीजाक्षर का साक्षात्कार होना कहते हैं।

इन श्लोकों का निर्णय करते हुए महाराज जी ने समझाया– द्वादशान्त तीन माने गये हैं– पहिला नासिक्य द्वादशान्त, जिसका माप बारह अंगुलों का माना है। दूसरा शक्तिद्वादशान्त है जो तालु से लेकर मूलाधार तक व्याप्त है। तीसरा शिवद्वादशान्त है जो मूलाधार से सहस्रार–चक्र तक व्याप्त है। इसी को कुंडलिनी का विकास भी कहते हैं।

इन सभी श्लोकों का संकलन निम्न श्लोक में करते हैं–

कन्दहृत्कण्ठताल्वग्र-
कौण्डलीप्रक्रियान्ततः।
आनन्दमध्यनाड्यन्तः
स्पन्दनं बीजमावहेत् ॥145॥

मेढ्रकंद, हृदय, कंठ, तालु के अग्रभाग तक तो शक्ति-द्वादशान्त का पद कहा जाता है, यहां से लेकर प्रक्रिया-प्रकर्षेन क्रियात्मक रूपता शिव-द्वादशान्त को कहते हैं। इन दोनों द्वादशान्तों को आनन्द रूप मध्यनाडि जिसे सुषुम्नाधाम भी कहते हैं उसमें जाकर स्पन्दनात्मक बीजावस्था को यह योगी प्राप्त करे मध्यधाम में ठहरे हुए इस सृष्टि बीज सौः का साक्षात्कार करो।

इन वर्ण तत्वों का संहार-बीज में भी निर्णय करते हैं–

संहारबीजं खं हृत्स्थ-
मोष्ठयं फुल्लं स्वमूर्धनि।
तेजस्त्र्यश्रं तालुकण्ठे
बिन्दुरूर्ध्वपदे स्थितः ॥146॥

संहारबीज–ख्– जो हृदय में ठहरा है, ओष्ठय में फ्, ऊर्जा में तेज–र्, तीन कोनों वाला Δ ए जो तालु और कंठ में ठहरा है, बिन्दु जो शक्ति–द्वादशान्त से शिवद्वादशान्त तक ऊर्ध्वपद में ठहरा है, इस भांति संहारबीज (ख्फ्रें) का अनुसन्धान या स्मरण करने से संवित् स्फार का उद्गम् होता है। सृष्टि बीज हो या संहारबीज हो दोनों का अभ्यास करने से शिव–साक्षात्कार होता है। संवित्–क्रम तो सर्वत्र अवस्थित है।

प्रश्न करते हैं कि वर्णों के स्वरूप पर अभ्यास करने से क्या लाभ होता है?

इत्येनया बुधो युक्त्या
वर्णजप्यपरायणः।
अनुत्तरं परं धाम
प्रविशेदचिरात् सुधीः ॥147॥

ज्ञानवान् सुधी श्रेष्ठ युक्ति–पूर्वक जप में लगा हुआ अनुत्तर परं धाम में शीघ्र ही प्रविष्ट होता है।

यहां बुधः तथा सुधी शब्द का, अवधान की ओर संकेत है। वही ज्ञानी, सुधी है जिसे अभ्यास की सजगता सदा बनी रहे।

अब वर्णतत्त्व का निर्णय करके दूसरे उपाय से भी स्वरूप लाभ का होना कहते हैं–

वर्णशब्देन नीलादि
यद्वा दीक्षोत्तरे यथा।

नहीं तो वर्ण शब्द से नील आदि रंग, दीक्षोत्तर तन्त्र में वर्णित किये हैं।

संहारनाग्निमरुतो।
रुद्रबिन्दुयुतान्स्मरेत् ॥148॥
हृदये तन्मयो लक्ष्यं
पश्येत्सप्तदिनादथ।
विस्फुलिङ्गाग्निवन्नील-
पीतरक्तादिचित्रितम् ॥149॥
जाज्वलीति हृदम्भोजे
बीजदीपप्रबोधितम्।
दीपवज्ज्वलितो बिन्द-
र्भासते विघनार्कवत् ॥150॥

संहार = क्ष्– तालु–लम्बिका चतुष्पथ में। ना पुरुषवाचक, म् कंठ में, अग्नि र्– नाभिस्थान में, रुद्र– ओंकार– मूलाधार में, बिन्दु मेढ्रकन्द में। ये क्ष्म्र्यों इन छः वर्णों का हृदय में तन्मय रूप से साधक यदि स्मरण करें तो फल यह होता है– सात दिन के बाद आठवें दिन चिंगारियों से युक्त अग्नि की भांति नील, पीत आदि अनेकानेक रंगों से युक्त पारमार्थिक लक्ष्य का साक्षात्कार करता है।

इस भांति संहारात्मक बीजाक्षर रूपी टार्च से प्रबोधित 'हृदय' संविदाधार में प्रकाशित बनकर मेघरहित–ग्रीष्मकालीन सूर्य की भांति यह परप्रमाता बनकर प्रकाशित बनता है।

इस श्लोक की व्याख्या में महाराज जी ने कहा कि ऊपरवर्णित बिन्दु से प्रणव की छः मात्राओं को भी ग्रहण करना चाहिये। वे ये हैं– अर्धचन्द्र, निरोधी, नाद, नादान्त, शक्ति और व्यापिनी।

चिंगारियों से युक्त अग्नि के रूप की उपमा की व्याख्या यह की– जैसे जलती हुई लकड़ी को छीलने से चिंगारियां निकलती हैं वैसे ही अभ्यास की अधिकता से स्वरूपलाभ में भी विचित्र आकार की चिंगारियों के रंग अनुभव में आते हैं।

प्रश्न करते हैं– साधक को स्वरूपलाभ की प्राप्ति के बाद स्थिति कैसी रहती है।

स्वयंभासात्मनानेन
तादात्म्यं यात्यनन्यधीः।
शिवेन हेमतां यद्व-
ताम्रं सूतेन वेधितम् ॥151॥

स्वयं प्रकाश रूप बना हुआ यह साधक शिव के साथ तदरूपता को प्राप्त करता है जैसे तांबे को पारे से शोधित करने पर वह सोना ही बन जाता है।

यह शक्ति न केवल पिंडमंत्र– संहार-मन्त्र में ही है बल्कि सभी बीजाक्षर मन्त्रों में भी इसी प्रकार नील, पीत आदि वर्णों से युक्त स्वरूपलाभ देने का सामर्थ्य है–

उपलक्षणमेतच्च
सर्वमन्त्रेषु लक्षयेत्।

इस भांति रंग दिखाकर स्वरूप-साक्षात्कार का पिंडाक्षर मन्त्र में होना, यह तो संकेतमात्र ही है। ऐसे ही सभी मन्त्रों को हमें जानना चाहिये।